Dr. Vandana Suman
Associate professor
Dept. of Philosophy
H.D. Jain College, Ara
M.A semester - I Philosophy CC-01
Indian Epistemology & Logic

Validity of Knowledge" - Svatah Pramanya Vada" (स्वतः प्रामाण्यवाद)

प्रामाण्य विषयक भारतीय दर्शन में ज्ञान के प्रामाण्य विषयक मूलतः दो प्रकार के मत मिलते हैं — (1) स्वतः प्रामाण्यवाद (2) परतः प्रामाण्यवाद। पुनः प्रामाण्य के स्वतस्त्व और परतस्त्व पर मुख्यतः (1) उत्पत्ति और (2) ज्ञप्ति दृष्टियों से विचार किया जाता है।

(1) उत्पत्ति की दृष्टि से स्वतः प्रामाण्यवाद का अर्थ प्रामाण्य विषयक वह सिद्धान्त है जिसके अनुसार जिस कारण से ज्ञान उत्पन्न होता है उसी कारण से ज्ञान की प्रामाणिकता भी उत्पन्न होती है। इस प्रकार ज्ञान के भीतर ही उसका प्रामाण्य अथवा अप्रामाण्य अन्तर्भूत होता है।

(2) ज्ञप्ति की दृष्टि से स्वतस्त्व का अर्थ है कि जिस साधन से ज्ञान का ग्रहण होता है उसी साधन से ज्ञान के प्रामाण्य का ग्रहण भी संभव है।

कुछ अन्य दार्शनिकों ने कार्य विषयक स्वतस्त्व का भी उल्लेख किया है। इस मत के अनुसार ज्ञान अपने अर्थबोधन रूप कार्य में स्वयं ही समर्थ होता है यह अन्य किसी निमित्त की अपेक्षा नहीं रखता। कुमारिल के अनुसार जिस इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष से प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है कि उसी से उसका प्रामाण्य भी उत्पन्न होता है और जिस ज्ञातता से ज्ञान का ग्रहण होता है उसी से ज्ञान के प्रामाण्य का भी ग्रहण होता है। इस प्रकार उत्पत्ति ज्ञप्ति और कार्य में प्रामाण्य स्वतः ही

सिद्ध होता है।

इसके विपरीत परतः प्रामाण्य विज्ञानवाद यह मत है जिसके अनुसार ज्ञान उत्पत्ति, ज्ञप्ति और कार्य तीनों में ही पराश्रित होता है। परतः प्रामाण्यवादी की दृष्टि में यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति कारणमात्र सामग्री से की जाती है किन्तु इसके प्रामाण्य की उत्पत्ति गुणवत्कारण भाव से होती है। इस प्रकार ज्ञान का ग्रहण अनुभवमात्र से होता है और ज्ञान के प्रामाण्य का ग्रहण प्रवृत्ति सामर्थ्य से होता है।

माधवाचार्य ने अपने ग्रंथ सर्वदर्शन संग्रह में भारतीय दार्शनिकों के प्रामाण्य वाद को चार कोटियों में बाँटते हुए लिखा है—

"प्रमाणत्वाप्रमाणत्वे स्वतः सांख्या समाश्रिताः
नैयायिकास्ते परतः सौगताश्चरमं स्वतः
प्रथमं परतः प्राहुः प्रामाण्यं वेदवादिनः
प्रमाणत्वं स्वतः प्राहुः परतश्चाप्रमाणताम्।"

इस प्रकार माधवाचार्य के अनुसार भारतीय दार्शनिकों के प्रामाण्य विषयक मतों को चार वर्गों में रखा जा सकता है—

1. प्रामाण्य और अप्रामाण्य विषयक स्वतस्त्ववाद — यह मत सांख्यों का है जो प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों की उत्पत्ति और ज्ञप्ति दोनों ही विषयों

को लेकर स्वतः स्त्ववादी हैं। सांख्यमत के अनुसार उत्पत्ति और ज्ञप्ति की दोनों ही दृष्टियों से ज्ञान की यथार्थता और अयथार्थता स्वयं और स्वतः प्रकाशित है। सांख्य तत्त्वमीमांसा के अनुसार सभी विषयों का ज्ञाता अथवा प्रमाता पुरुष ही है जो अपने चैतन्य स्वरूप के कारण प्रमा और अप्रमा रूप ज्ञान के भेद को स्वतः ही जान जाता है।

२. प्रामाण्य और अप्रामाण्य विषयक परतः स्त्ववाद — यह मत नैय्यायिकों का है। नैय्यायिक पूर्णतः परतः प्रामाण्यवादी हैं अर्थात् न्याय मतानुसार किसी भी ज्ञान का प्रमाण्य उत्पत्ति और ज्ञप्ति की दोनों ही दृष्टियों से स्वतः उस ज्ञान के पर किसी अन्य ज्ञान अथवा उपाधियों पर आश्रित होता है। न्याय मतानुसार ज्ञान प्रमा अथवा अप्रमा रूप हो सकता है। ज्ञाता के भीतर बुद्धि अथवा विषय के बोध का उत्पाद के लिए कुछ बाह्य कारक उत्तरदायी होते हैं। जब ज्ञान गुणवत कारणों के द्वारा उत्पन्न होता है तो यह प्रमा रूप होता है और जब ज्ञान की उत्पत्ति में गुणवत-कारण-दोष होता है तो ज्ञान अप्रामाण्ययुक्त अथवा अप्रमा रूप होता है। इसी प्रकार ज्ञान के प्रमाण्य का ग्रहण भी ज्ञानान्तर संवाद अथवा प्रवृत्तिसामर्थ्य के द्वारा होता है।

(3) प्रामाण्य के विषय में स्वतःस्त्ववादी और अप्रामाण्य के विषय में परतःस्त्ववादी — यह मत के अनुसार

मीमांसकों और वेदान्तियों का है। माध्वाचार्य के अनुसार वेदान्ती प्रामाण्य के सम्बन्ध में स्वतः प्रामाण्यवादी है और अप्रामाण्य के विषय में परतःवाद का समर्थन करते हैं। मीमांसा तथा वेदान्त मत के अनुसार सत्यता ज्ञान का स्वाभाविक लक्षण है अतः अपने मूल रूप में प्रत्येक ज्ञान सत्य है किन्तु कुछ बाह्य कारणों (मायादि) से ज्ञान में अयथार्थता अथवा अप्रमात्व उत्पन्न हो जाता है। इसी प्रकार ज्ञान की यथार्थता अथवा प्रामाण्य का ग्रहण (ज्ञप्ति) भी स्वतः ही होता है। किन्तु अप्रामाण्य (अयथार्थता) की परीक्षा ज्ञान से परे अन्यत्र जाकर करनी होती है।

५. प्रामाण्य के विषय में परतत्ववादी और अप्रामाण्य के विषय में स्वतत्ववादी - इस मत के अनुसार प्रत्येक ज्ञान अपनी उत्पत्ति में ही दोषपूर्ण (अप्रामाण्य) ही होता है किन्तु साधना आदि के द्वारा ज्ञाता ज्ञान में प्रामाण्य उत्पन्न कर लेता है। इसी प्रकार प्रामाण्य का ग्रहण (ज्ञप्ति) भी कुछ बाह्य कारणों पर आधारित होता है किन्तु अप्रामाण्य की ज्ञप्ति स्वतः ही हो जाती है। माध्वाचार्य यह मानते हैं कि यह इस मत के समर्थक सौगत (बौद्ध) है। प्रायः जैन प्रमाण

मीमांसकों ने भी सभी ज्ञानों को स्वतः प्रमाण माना है।
प्रामाण्य ज्ञान की उत्पत्ति ... स्वतः होता है और
ज्ञान ... स्वतः प्रामाण्यवाद
... ज्ञान से ... अनधिगत
... मतानुसार ज्ञान का प्रामाण्य
... ज्ञान की उत्पत्ति
... ज्ञान को
... स्वतः होता है और ... परतः।
अप्रामाण्य का ...
ज्ञान स्वरूपतः प्रमाण होता है, और
ज्ञान में ... दोष से उसका अप्रामा-
ण्य होता है। पार्थसारथी मिश्र ने प्रमा
(यथार्थ ज्ञान) को कारण दोष और
बाधक ज्ञान से रहित अनधिगतग्राही
(किसी वस्तु को ग्रहण करनेवाला जिसका
पहले ग्रहण न हुआ हो) ज्ञान कहा है।
अनधिगत ... प्रमा को ... और
अनधिगतग्राही ज्ञान कहा है। स्मृति
उस वस्तु का ज्ञान है जिसका पहले ग्रहण
हो चुका है। इसलिए स्मृति जन्य ज्ञान
... होता। इसलिए स्मृति प्रमा नहीं
... कि प्रमा नवीन ज्ञान (अनधिगत-
ग्राही) होता है। प्रमा बाधक ज्ञान से
रहित होती है। अबाधितता प्रमात्व की
एक कसौटी है। बाधहीनता का मतलब
न केवल बाधक ज्ञान का अभाव है,
बल्कि ज्ञान की आन्तरिक संगति भी
है। प्रमा यथार्थ ज्ञान है। वह वस्तु के
सच्चे स्वरूप का प्रकाश करती है।

इसलिए प्रमा को ऐसे कारणों से उत्पन्न होना चाहिए जिनमें दोष निरकुल न हो। नवीनता निश्चितता और यथार्थता प्रमा के गुण हैं।

प्रभाकर ने अनुभूति को प्रमाण कहा है। अनुभूति अर्थ का अपरोक्ष ज्ञान है। अनुभूति स्वतः प्रमाण है। प्रभाकर ने कहा है कि ज्ञान अर्थ का अवभासक हो और अप्रमाण हो, यह कैसे हो सकता है? शालिक नाथ ने 'अनुभूतिः प्रमाणम्' कहा है। अनुभूति स्मृति से भिन्न है, जो कि पूर्व ज्ञान के संस्कार से उत्पन्न होती है। पूर्व ज्ञान पर निर्भर होने के कारण स्मृति प्रमाण नहीं है। प्रभाकर और कुमारिल दोनों ने ही स्मृति को प्रमाण नहीं माना है।

मीमांसा-दर्शन ज्ञान को स्वतः प्रमाण मानता है। कुमारिल ने कहा है: ज्ञान का प्रामाण्य (Validity) उसके बोधस्वरूप होने से है और जब उसका दोषों के ज्ञान से बाद में वस्तु के सच्चे स्वरूप से विरोध प्रकट होता है तब उसका अप्रामाण्य जाना जाता है। ज्ञान स्वतः प्रमाण होता है और उसका अप्रामाण्य (Invalidity) तब ज्ञात होता है जब बाधक

ज्ञान होता है
का ज्ञान होता है। जैसे कारणों के दोषों
से दोष - रहित ज्ञान का प्रामाण्य ज्ञान
है। ज्ञान कारणों से उत्पन्न होता
प्रामाण्य को कारणों के स्वरूप से ज्ञान के
प्रामाण्य की उत्पत्ति होती है। ज्ञान
गुणों से भिन्नता नहीं। ज्ञान के कारणों के
ऐसा नहीं मानते। लेकिन मीमांसा
के कारणों से बाहर। प्रामाण्य - ज्ञान
किसी चीज से बाहर रहने वाली उत्पन्न नहीं होता।
प्रामाण्य का ज्ञान भी स्वतः होता है।
अर्थक्रिया ज्ञान (Pragmatic utility)
से या बाधक ज्ञान के अभाव से
नहीं। ज्ञान स्वतः प्रमाण होता है, किसी
दूसरे ज्ञान के कारण इसका प्रामाण्य
नहीं होता। प्रामाण्य की उत्पत्ति
ज्ञान को उत्पन्न करने वाले अदृष्ट
कारणों से होती है और इसको
ज्ञप्ति स्वतः होती है। प्रामाण्य के
स्वतस्त्व का अर्थ यह है कि वह
ज्ञान की सामग्री से ही उत्पन्न होता
है, उससे भिन्न हेतु से नहीं, तथा
इसकी ज्ञप्ति उसी सामग्री से
होती है जिससे ज्ञान की ज्ञप्ति होती
है।

प्रभाकर का मत यह
है कि अनुभूति या ज्ञान स्वतः प्रमाण
होती है। इसका स्वतः प्रामाण्य
तब असिद्ध होता है जब यह

ज्ञात होता है कि, इसकी वास्तविक वस्तु से संगति नहीं है । ज्ञान अतः स्वतः प्रमाण होता है और इसका अप्रामाण्य परतः अर्थात वस्तु के विषय से असंगति होने के कारण होता है। इसी प्रकार कुमारिल और प्रभाकर दोनों ही ज्ञान को स्वतः प्रमाण मानते हैं।

न्याय ज्ञान को स्वतः न प्रमाण मानता है और न अप्रमाण। दोनों प्रामाण्य और अप्रामाण्य परतः होते हैं। प्रामाण्य ज्ञान के कारणगत गुण से होता है अप्रामाण्य उसके कारणगत दोष से।

मीमांसा न्याय-मत के विरुद्ध यह आपत्ति देते हैं कि अगर प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों परतः यानी बाह्य कारणों से होते हैं तो प्रामाण्य या अप्रामाण्य के ज्ञान के पहले ज्ञान को निःस्वभाव (neutral) होना चाहिए, क्योंकि ज्ञान वस्तु के स्वरूप को यथार्थ और अयथार्थ के अतिरिक्त किसी अन्य तरीके से ग्रहण नहीं कर सकता। ज्ञान प्रमाण होगा या अप्रमाण होगा। मध्यस्थ ज्ञान का हमें कभी अनुभव नहीं होता। अगर ज्ञान स्वतः वस्तु के सच्चे स्वरूप को ग्रहण नहीं कर सकता

चूंकि अपनी वस्तु के प्रमाज्ञान के लिए किसी अन्य ज्ञान पर निर्भर होता है तो उस अन्य ज्ञान को भी प्रमाण होने के लिए एक तीसरे ज्ञान पर निर्भर होना चाहिए। न्याय-मत के अनुसार ज्ञान का प्रामाण्य कारण के गुण (Proficiency) के ज्ञान पर निर्भर होता है (अर्थात अर्थक्रिया (Practical efficiency) के साथ संवाद (agreement) होने पर निर्भर होता है। लेकिन अगर पहले ज्ञान का प्रमाण्य दूसरे ज्ञान पर निर्भर होता है तो दूसरे का प्रमाण्य भी तीसरे पर निर्भर होगा और इस प्रकार अनावस्था-दोष हो जायेगा।

नैयायिक यह मानते हैं कि अर्थक्रियाज्ञान स्वतः प्रमाण होता है, क्योंकि उसका कभी बाध नहीं होता। पानी को देखकर आदमी उसे पीता है और अपनी प्यास बुझाता है। पानी पीने के ज्ञान का कभी बाध नहीं होता। इससे पानी के ज्ञान का प्रामाण्य सिद्ध होता है। मीमांसक कहते हैं कि अर्थक्रिया-ज्ञान का भी बाध होता है। स्वप्न में हमें पानी पीने और प्यास के बुझने का ज्ञान होता है। लेकिन अर्थक्रिया का यह ज्ञान अप्रमाण है क्योंकि जागने पर इस ज्ञान का बाध हो जाता है। इसलिए अर्थक्रिया-ज्ञान स्वतः प्रमाण नहीं हो सकता।

मीमांसक का नैयायिक से

दो बातों में मतभेद हैं। पहली बात यह है कि मीमांसक के मतानुसार ज्ञान का प्रामाण्य स्वभावतः स्वरूप करता है और स्वतः सिद्ध होता है तथा अप्रामाण्य ज्ञान के कारणगत दोषों से और बाधक ज्ञान से अनुमित होता है, जबकि नैयायिक के मत से प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों ही बाह्य कारणों पर निर्भर होने के कारण ज्ञान के आगन्तुक गुण हैं और क्रमशः सफल और विफल अर्थक्रिया से अनुमित होते हैं। दूसरी बात यह है कि नैयायिक अर्थक्रिया को प्रामाण्य की कसौटी मानता है जबकि मीमांसक नहीं मानता। मीमांसक यह मानता है कि ज्ञान का प्रामाण्य स्वतः सिद्ध होता है और उसे सिद्ध करने के लिए ज्ञानान्तर की अपेक्षा नहीं होती, लेकिन ज्ञान का अप्रामाण्य आगन्तुक होता है और स्वतः सिद्ध नहीं होता बल्कि अर्थ के स्वरूप से इसका विसंवाद होने से या ज्ञानेन्द्रिय इत्यादि ज्ञान सामग्री के दोषों से उसका अनुमान किया जाता है। इसके विपरीत नैयायिक प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों को परतः मानता है और क्रमशः प्रवृत्ति संवाद और प्रवृत्ति-विसंवाद से उनका अनुमान करता है: प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों ज्ञान के आगन्तुक धर्म हैं और ज्ञान सामग्री के अतिरिक्त कारणों पर निर्भर होते हैं।